पशु लोगों के अच्छे दोस्त

ज्यादातर लोगों को यह अपना अकेलापन दूर करने का आसान तरीका लग रहा था। अकेलेपन के उस दौर में ये मासूम पशु लोगों के अच्छे दोस्त साबित हो रहे थे। मगर जैसे दुनिया अनलॉक हुई और जीवन पुराने ढर्रे पर लौटने लगा, अकेलेपन के ये साथी बोझ बनने लगे।

नवीन पंडित।।

महामारी और लॉकडाउन की त्रासदी ने मनुष्य समाज को जिस मनरूस्थिति में डाल दिया था, उसका एक मासूम शिकार पेट्स भी हुए हैं। इस दौरान लोगों में बढ़ती असुरक्षा और आशंका ही नहीं, उनके अकेलेपन का भी खामियाजा आखिरकार डॉगी और कैट्स जैसे मासूम प्राणियों को भुगतना पड़ा है। इस पहलू पर रोशनी हाल ही में हुई अपने तरह की पहली स्टडी से पड़ी है। मार्स पेट केयर और पशु कल्याण विशेषज्ञों के एक सलाहकार बोर्ड द्वारा पिछले हफ्ते करवाए गए एक सर्वे से यह बात स्पष्ट हुई कि लॉकडाउन के दौरान जब लोग हर तरह की गतिविधियों से दूर घरों में बंद रहने को मजबूर थे, तब पेट्स एडॉप्ट करने की प्रवृत्ति काफी तेज हो गई थी।

ज्यादातर लोगों को यह अपना अकेलापन दूर करने का आसान तरीका लग रहा था। यह काफी हद तक सफल भी था। अकेलेपन के उस दौर में ये मासूम पशु लोगों के अच्छे दोस्त साबित हो रहे थे। मगर जैसे–जैसे दुनिया अनलॉक हुई और जीवन पुराने ढर्रे पर लौटने लगा, अकेलेपन के ये साथी बोझ बनने लगे। सो, इन्हें वापस लौटाने या अघोषित रूप से ही मार्केट प्लेस पर या अनजान गलियों में छोड़ आने की प्रवृत्ति तेज हो गई। यह प्रवृत्ति दुनिया भर में दिखी, लेकिन भारत इसमें सबसे आगे रहा। जिन नौ देशों में यह सर्वे किया गया, उनमें से पेट होमलेसनेस के मामले में सबसे बुरी स्थिति भारत में ही पाई गई।

दिलचस्प है कि महामारी और लॉकडाउन की पाबंदियों के बीच जब पेट्स को गोद लेने का ट्रेंड बढ़ रहा था, तब भी देश में पेट्स छोड़ने की घटनाएं बड़े पैमाने पर हो रही थीं। इस स्टडी के मुताबिक, भारत में 50 फीसदी पेट ओनर्स ने महामारी के दौरान उन्हें त्यागने की बात मानी जबकि वैश्विक स्तर पर ऐसे ओनर्स का प्रतिशत 28 है। महामारी के दौरान ऐसा करने के पीछे ज्यादातर मामलों में यह डर था कि कहीं ये पेट्स वायरस पहुंचाने का जरिया न बन जाएं। लॉकडाउन के बाद इन्हें छोड़ने की बड़ी वजहों में कामकाज और जीवनशैली से उपजी मजबूरियां रहीं। कहा गया कि इनकी देखभाल करने की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी और ऑफिस तो जाना ही था। कई लोगों को इन्हें एडॉप्ट करने के बाद पता चला कि इनकी देखभाल करना कितना मुश्किल काम है और यह उनके वश का नहीं है।

बहरहाल, चाहे इरादतन हो या न हो, पर जीवन के साथ खिलवाड़ के ये उदाहरण हमारी संवेदनशीलता पर एक बड़ा सवाल हैं। हम भूल जाते हैं कि अपना अकेलापन दूर करने की चाहत में हम जिसे घर ला रहे हैं, वह कोई निर्जीव वस्तु नहीं बल्कि प्यार, नफरत और उदासीनता को महसूस करने वाली एक जिंदा चीज है। हम उसका कल्याण न करें कोई बात नहीं, पर उसे कम से कम अपने मूड स्विंग की बलि तो न चढ़ाएं।

अवतार

अशोक वोहरा। इस तरह के सवालों के जवाब के लिए, दृष्टिकोण को धर्मशास्त्र और दर्शन पर आधारित होना चाहिए। धार्मिक अनुभव के तंत्रिका विज्ञान पर शोध से पता चलता है कि शरीर की गतिविधि धार्मिक जीवन का एक आवश्यक हिस्सा है। इस क्षण तक विज्ञान द्वारा आत्मा या आत्मा की भूमिका की न तो पुष्टि की जा सकती है और न ही उसका खंडन किया जा सकता है। न्यूनीकरणवाद बताता है कि धर्म शरीर विज्ञान से ज्यादा कुछ नहीं है। उद्भववाद, तर्क देता है कि मानव धार्मिकता भौतिक प्रणालियों के संगठन की प्रकृति से उत्पन्न होती है (उदाहरण के लिए, न्यूरॉन्स), और इस अर्थ में कारण है कि यह संपूर्ण प्रणाली का संगठन है जो सामाजिक दुनिया के साथ बातचीत करता है और शारीरिक।

संपादकीय

आगे का अजेंडा

आने वाले साल से महिलाएं उम्मीद करती हैं कि जो मुद्दे अनसुलझे हैं, उन्हें सुलझााया जाएगा। मसलन– महिला आरक्षण बिल पास हो। घरेलू कामगार महिलाओं की तादाद कोरोना के बाद बहुत बढ़ी है, लेकिन घरेलू कामगार बिल पर सरकार ने अभी तक संज्ञान नहीं लिया है। फास्ट ट्रैक कोर्ट अभी भी सपना है। घरेलू हिंसा के मामलों में पारिवारिक अदालतों में जजों की भारी कमी है, जिस कारण केस लंबे समय तक लटके रहते हैं, औरतों को राहत नहीं मिलती। टाइम बाउंड जजमेंट न आना भी महिलाओं को न्याय से दूर कर रहा है। हलाला पर अभी भी रोक नहीं लग पाई है।

बेहतर हो कि बिगड़े हालात में जहां ज्यादा संख्या में महिलाएं काम से बाहर कर दी गई , वहां नियुक्तियों में उनके लिए आरक्षण सुनिश्चित किया जाए। यह भी समझा जाना चाहिए कि महिला स्वास्थ्य मात्र प्रजनन तक सीमित नहीं है। इंटरनैशनल लेबर ऑर्गनाइजेशन के अनुसार जहां तीन चौथाई पुरुषों के रोजगार पर महामारी ने असर डाला, वहीं महिलाओं का हिस्सा 90 प्रतिशत रहा। जहां 2019 में 9.7 प्रतिशत शहरी महिलाएं लेबर फोर्स का हिस्सा थीं, वहीं महामारी में यह 6.9 फीसदी हो गया। कार्यस्थल पर 71 फीसदी कामकाजी पुरुषों के मुकाबले महज 11 फीसदी महिलाएं रह गई हैं। भारत सरकार के खुद के कर्मचारियों में महज 11 प्रतिशत महिलाएं हैं। ये सवाल अनसुने क्यों है? उम्मीद यह भी है कि आने वाले साल में महिलाओं को ऐसा माहौल मिलेगा, जिसमें वे पुलिस के पास जाने से घबराएंगी नहीं। सड़क औरतों के लिए सुरक्षित जगह बनेगी। देखना यह है कि नया साल इनमें से कितनी उम्मीदें पूरी करता है।

देखा यह जाता है कि अक्सर ऐसे सवालों से औरत गायब कर दी जाती है और सियासी और मजहबी इदारे गोलबंदी करने लगते हैं। बात इसी साल या इसी बहस की नहीं है।

परिपक्वता का तर्क

नाइश हसन।।

महिलाओं के सवाल पर हालिया बहस जो सबसे ज्यादा तीखी प्रतिक्रियाओं के साथ उठी वह है विवाह की न्यूनतम आयु। वैसे महिलाओं से जुड़ा कोई भी मुद्दा जब भी समाज में उठता है, उस पर तीखी प्रतिक्रिया होती है। जरूरी यह है कि जब औरत से ताल्लुक रखती कोई बहस छिड़े तो उसके केंद्र में औरत मौजूद हो। देखा यह जाता है कि अक्सर ऐसे सवालों से औरत गायब कर दी जाती है और सियासी और मजहबी इदारे गोलबंदी करने लगते हैं। बात इसी साल या इसी बहस की नहीं है। ऐसा इस तरह की तकरीबन हर बहस में देखा जाता रहा है।

याद कीजिए जब बाल विवाह की रोकथाम के लिए बने शारदा अधिनियम–1929 में सुधार करते हुए 1978 में लड़की के विवाह की आयु को 15 से 18 करने की बात चली, तब भी इस पर खूब बहसें हुईं। कहा गया कि यह सरकार का गैरजरूरी हस्तक्षेप है। उसके बाद जब लड़की के विवाह की आयु 18 और लड़के की 21 हुई, तब एक तर्क यह भी दिया गया कि लड़की, लड़के से जल्दी परिपक्व हो जाती है। इसलिए उसकी आयु लड़के से कम होना ठीक है। यूं कहें कि इस बहस में लड़की को सिर्फ जिस्म, उसकी माहवारी और उसकी प्रजनन क्षमता तक सीमित कर दिया गया। परिपक्वता के तर्क का कोई वैज्ञानिक प्रमाण न तब मौजूद था, न अब है। हालांकि विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट कहती है कि 20 वर्ष से पहले गर्भवती होने पर औरत को कुपोषण, प्रजनन और नवजात शिशु से संबंधित अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

ऐसे में जरूरी यह है कि महिलाओं के प्रश्न को धर्म आधारित कानून और पितृसत्ता की चिंताओं से बाहर खींच कर मानवाधिकार के प्रश्न के रूप में स्थापित किया जाए। चारू खुराना बनाम यूनियन ऑफ इंडिया (2015) के मामले में न्यायालय ने लैंगिक न्याय को मानव अधिकार की उपलब्धि कहा। मानवाधिकार अधिनियम 1993 की धारा 2(डी) जीवन, स्वतंत्रता, समानता और गरिमा की बात करती है। दूसरे विश्व महिला सम्मेलन 1993 और चौथे विश्व सम्मेलन 1995 में लैंगिक भेदभाव के प्रश्न को पूरी तरह से खारिज किया गया था।

समकालीन विश्व की स्त्रियां अपने अस्तित्व, गरिमा और समान अधिकार के लिए संघर्षरत हैं। दुनिया भर के 125 से अधिक देशों में लड़की और लड़के की शादी की न्यूनतम उम्र समान है। इसलिए लड़कियों द्वारा अपने देश में इस बार उठाया गया यह सवाल बहुत मानीखेज लगता है। यह किसी भी सियासी जमात की वोट की गोलबंदी के मकसद से कहीं बड़ा है। काबिले गौर बात यह है कि हाल के दिनों में महिलाओं ने तमाम सवालों पर स्टैंड लेने और अपनी जगह बनाने में कोई कमी नहीं रखी। विपरीत परिस्थितियों में भी वे मैदान में डटी रहीं, चुनौती देती रहीं। एनआरसी आंदोलन की तरह किसान आंदोलन में भी महिलाओं की भागीदारी सुर्खियां बनती रही। शनी शिंगनापुर, सबरीमला, हाजी अली, हैपी टू ब्लीड, मी–टू, पिंजड़ा तोड़, तीन–तलाक, सेना में बराबरी, महिला आरक्षण आदि औरतों के खुद उठाए हुए मुद्दे हैं। इसमें हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, दलित सभी महिलाएं शामिल हैं। कुछ के जवाब औरतों को मिल गए, कुछ पर अभी भी संघर्ष जारी है।

अपना ब्लॉग

बेरोजगार हुए लोगों में 88 लाख महिलाएं

मोहन। सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकॉनमी की एक रिपोर्ट बताती है कि बेरोजगार हुए लोगों में 88 लाख महिलाएं हैं। ग्रामीण इलाकों में 65 लाख और शहरी क्षेत्रों में 23 लाख महिलाओं को बेरोजगार होना पड़ा, जो समाज में चर्चा से भी बाहर हैं। दुनिया के सबसे बड़े ऑनलाइन प्रफेशनल नेटवर्क लिंक्डइन की ऑपर्च्युनिटी इंडेक्स रिपोर्ट 2021 के मुताबिक 85 फीसदी भारतीय कामकाजी महिलाओं का दावा है कि उन्हें अपने जेंडर की वजह से प्रमोशन और काम के मौके गंवाने पड़े हैं। 37 प्रतिशत का कहना है कि उन्हें पुरुषों के मुकाबले कम वेतन मिलता है। कोरोना महामारी का बड़ा खामियाजा महिलाओं ने भुगता। नौकरियों से निकाले जाने वालों में पहले नंबर पर महिलाएं थीं। इसी काल में सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकॉनमी के थिंक टैंक ने बताया कि भारत में केवल 5 प्रतिशत शहरी महिलाओं के पास रोजगार है। आपको जानकर ताज्जुब होगा कि हमारा देश महिलाओं को रोजगार देने के मामले में इंडोनेशिया और सऊदी अरब से भी पीछे है।